

उत्तराखण्ड में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं मानवाधिकार

नरेश सिंह नेगी
शोधार्थी: राजनीति विज्ञान विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोटद्वार, गढ़वाल

सारांश

भारतीय सभ्यता व संस्कृति बहुत प्राचीन रही है। यहां अनेक वर्ग व जातियों के लोग निवास करते हैं। इन जातियों में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजातियों का प्रमुख स्थान है। भारत के उत्तरी सीमा पर स्थित नवसृजित राज्य उत्तराखण्ड में भी इन जातियों के लोगों की संख्या अत्यधिक है। प्राचीन समय से ही सामाजिक व्यवस्था इस राज्य में जाति पर आधारित रही है। वर्तमान में भी इन वर्गों के लोग आधुनिकता से कटे हुये प्रतीत होते हैं। इनके साथ सामाजिक भेदभाव प्रत्येक क्षण देखने को मिलता है। इसका प्रमुख कारण इन लोगों का अपने अधिकारों के प्रति जागरूक न रहना है। प्रस्तुत आलेख उत्तराखण्ड के संदर्भ में अनुसूचित जाति व जनजाति की समस्याओं के प्रकाशन के लिये लिखा गया है।

कुंजीशब्द— अधिकार, मानवाधिकार, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, सामाजिक भेदभाव।

प्रस्तावना

“मानवाधिकार ऐसे संवैधानिक प्रत्याभूत हैं जो, जीवन से सम्बन्धित स्वतन्त्रता और व्यक्ति की गरिमा को समाहित करते हैं, तथा इनको अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में स्थान प्राप्त हैं। भारत में इन्हें न्यायालय के द्वारा प्रवर्तनीय बनाया जाता है।”

.....मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा 2(घ)

मानवाधिकारों का मूल अधिकांश विद्वान प्राचीन यूनान एवं रोम में मानते हैं। अनेक धर्मग्रन्थों व पुस्तकों में मानवाधिकार संरक्षण के प्रमाण मिलते हैं। अन्तर्वस्तु भेद होने के बावजूद विश्व के लगभग सभी प्रमुख धर्म मानव-अधिकारों का समर्थन करते हैं। प्राकृतिक अधिकारों तथा मानव-अधिकारों के विचारों की मान्यता यूनानी व रोमन चिन्तकों से मिलती है। अरस्तू के अनुसार संविधान की परिस्थितियों में परिवर्तन करने के लिये न्याय, सद्गुण तथा अधिकारों को मान्यता मिलनी चाहिये। प्लेटो ने भी मानवाधिकारों की वकालत की और कहा कि जिस प्रकार कोई राज्य अपने देशवासियों के साथ व्यवहार करता है। ठीक उसी प्रकार वह विदेशियों के साथ भी व्यवहार करे। बाद में ईसाई, धर्म के सेन्ट थॉमस एक्वीनास ने मनुष्य को ईश्वर द्वारा दिये गये अधिकारों को अंशतः दैविक ढंग से प्रकाशित किया।

भारत में भी ऋषि, मुनियों ने अधिकारों के दमन को प्रत्यक्ष देखा। तुलसीदास का मत था कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी हो वह नरक का अधिकारी है। इसलिये सत्ता का पहला कर्तव्य मानव के अधिकारों की रक्षा है। प्राचीन भारतीय समाज में चतुर्वर्ण व्यवस्था का उल्लेख

मिलता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार समाज में चारों वर्ण परस्पर सहयोग करने वाले पूर्ण शरीर के जरूरी अंगों के समान बताये गये हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः ।

उरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्याम् शूद्रो अजायत् ॥

अर्थात् ब्राह्मण उस विराट पुरुष के मुख, राजा (क्षत्रिय) उसके दोनों बाहु, वैश्य उरु व शूद्र दोनों पैरों से उत्पन्न हुये हैं। मानव शरीर में इन सभी अंगों की आवश्यकता भी समान है। इसलिये किसी भी अंग को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता। पैरों पर भी जीवन गति का भार अवलम्बित रहता है, अतः अर्थ साधन के प्रमुख अंग के रूप में शूद्र भी समाज का आवश्यक वर्ग था।

प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) के बाद राष्ट्र संघ (1919) का गठन हुआ। इससे मानवाधिकार की अवधारणा का विकास अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुआ। यद्यपि इसमें अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं था, फिर भी राष्ट्र संघ ने अल्पसंख्यक श्रमिक व बाल मजदूरों के अधिकारों पर ध्यान दिया। परिणामतः 1919 से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघटन संयुक्त राष्ट्र संघ की स्वायत्त संस्था के रूप में कार्यरत है। द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–1945) के बाद गठित संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार के विकास में मील का पत्थर है। बीसवीं शदी के उत्तरार्द्ध को मानवाधिकार की अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्वव्यापी मान्यता के जन्म का काल कह सकते हैं।

मानव अधिकार मनुष्य को प्राप्त वे न्यूनतम अधिकार हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति को जन्म से ही मानवोचित गुण होने के कारण प्राप्त होते हैं। ये अधिकार, मानव की गरिमा बनाये रखने के लिये अति आवश्यक हैं। इनमें से कुछ अधिकार शारीरिक, मानसिक व स्वास्थ्य के लिये प्राप्त हैं। मनुष्य के अन्तः निहित शक्तियों के विकास से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। इन शक्तियों के विकास के लिये मनुष्य समाज के सामने कुछ मांगे रखता है। ये मांगे निम्न प्रकार की हो सकती हैं— कुछ पूर्णतः स्वार्थपूर्ण, कुछ सार्वजनिक कल्याण के हित में तथा कुछ तटस्थ। समाज उन मांगों को प्रायः स्वीकार कर लेता है जो सामाजिक होती हैं और मनुष्य के व्यक्तिगत व सामूहिक कल्याण को सुनिश्चित करती हैं समाज द्वारा स्वीकृत ऐसी मांगों को मानव-अधिकार कहते हैं।

अधिकार को परिभाषित करते हुये हॉलैण्ड ने कहा है कि अधिकार एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के कर्तव्य को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है। अधिकार वे मांगे हैं जिन्हें, समाज, राज्य एवं कानून नैतिक मान्यता प्रदान करते हैं। मानव अधिकारों को विभिन्न राज्यों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विधिक प्रणाली तथा आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक स्थितियों में भिन्नता के कारण परिभाषित करना कठिन है।

डी०डी० बसु के अनुसार – “मानव अधिकार को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी अन्य आचरण के, मानव परिवार का सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी के विरुद्ध धारण करना चाहिये”।

बलम्भा पाल एवं कोचीन यूनिवर्सिटी के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि मानव अधिकार विश्व भर में मान्य, व्यक्तियों के वे अधिकार हैं जो, उनके पूर्ण शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास के लिये बहुत बुनियादी माने जाते हैं। ये अधिकार मानव शरीर में अन्तर्निहित

गरिमा और महत्व से उद्भूत हुये हैं। मानव अधिकार को विश्व के सभी देशों ने अपने संविधान में मूल अधिकार के रूप में शामिल किया है। जिसकी मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं –

- (a) व्यक्ति के पूर्ण नैतिक व आध्यात्मिक विकास के लिये ये अधिकार अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध हो जायेगा, इसलिये लोक तन्त्रात्मक राज्य में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकार प्रदान किये जाते हैं।
- (b) मूल अधिकार साधारणतयः अनुल्लंघनीय हैं। विधायिका कार्यपालिका या बहुमत दल द्वारा उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है।
- (c) मूल अधिकारों को संविधान में स्थान दिया जाता है व सामान्यतः संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया के अतिरिक्त उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
- (d) मूल अधिकार न्यायविष्ट होते हैं तथा सभी नागरिकों को एक समान प्राप्त होते हैं।

10 दिसम्बर 1948 को सं० रा० संघ के तत्वाधान में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का जन्म हुआ। इस घोषणा के अन्तर्गत प्रस्तावना के अलावा कुल 30 अनुच्छेद हैं। यह घोषणा सभी लोगों और राष्ट्रों के लिये मानव अधिकारों के स्तर को बनाये रखने के लिये एक समान मानक के रूप में माना जाता है। मानव अधिकारों के क्षेत्र में सार्वभौमिक घोषणा विश्व शान्ति रूपी मंदिर के विशाल प्रवेश द्वार के समान है। सं० रा० संघ के सदस्यों ने मानव के मूल अधिकारों, समानता के अधिकार, सामाजिक प्रगति और उच्च जीवन स्तर को सुधारने तथा उन्हें बढ़ाने का निश्चय किया है। सं० राष्ट्र के चार्टर में अपना विश्वास करते हुये सदस्य देशों ने यह प्रतिज्ञा की है कि संयुक्त राष्ट्र के साथ मिलकर मानवाधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सभी राष्ट्र संरक्षण प्रदान करेंगे।

सार्वभौमिक घोषणा की प्रस्तावना में कहा गया है कि मानव समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान एवं समानता के साथ मानवाधिकारों की प्राप्ति का हक दिया जायेगा। तभी विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय व शान्ति की स्थापना हो सकती है। इस घोषणा के अन्तर्गत 21 अनुच्छेदों (अनु० 1 – 21) का सम्बन्ध सिविल और राजनैतिक अधिकारों से है। जबकि 6 अनुच्छेदों (अनु० 22–27) का सम्बन्ध आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों से तथा शेष 3 अनुच्छेदों (अनु० 28–30) का सम्बन्ध सामान्य अधिकारों से है।

मानवाधिकारों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकार की सार्वभौमिक घोषणा के अन्तर्गत मानवाधिकारों को दो प्रमुख भागों में वर्गीकृत किया गया है –

- (क) नागरिक व राजनैतिक अधिकार – इन्हें परम्परागत अधिकार भी कहते हैं। इनमें प्रधान और वही अधिकार आते हैं जिनका विवेचन मानवाधिकारों की घोषणा के अनुच्छेद 2 से 21 में किया गया है।
- (ख) आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार – इन्हें कार्यक्रमिक अधिकार भी कहते हैं। ये अधिकार पूंजीवादी विकास के दुरुपयोग व दुर्यवहार की प्रतिक्रियायें हैं। इनकी संकल्पना सकारात्मक न कि नकारात्मक पदों के रूप में की गई है।

भारत के संविधान में मूल अधिकारों की व्याख्या भाग-3 में (अनुच्छेद 12 से 35) किया गया है। मूल अधिकारों की कुल संख्या पूर्व में सात थी। जो कि वर्तमान में छः हैं। धातव्य है कि सम्पत्ति के अधिकार को 1978 में 44 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा हटाकर विधिक अधिकार के रूप में स्थान दिया गया है।

भारत की सभ्यता एवं संस्कृति लगभग पांच सहस्र वर्ष पुरानी है। प्रारम्भ में आदिमानव स्वतंत्र विचरण करता था। धीरे-धीरे उसने समूह में रहना शुरू किया। परिणामतः परिवार, कुल, ग्राम, समाज आदि बने। समाज चार वर्गों में विभाजित हो गया— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। उत्तरवैदिक काल में समानता की दृष्टि से चारों वर्गों के धार्मिक, सामाजिक अधिकारों व कर्तव्यों में परस्पर भिन्नता दिखाई देती है। शूद्रों पर कुछ धार्मिक प्रतिबन्ध भी थे। वे यज्ञ से बहिष्कृत थे। उनके लिये यज्ञाग्नि अस्पृश्य थी। इसलिये शूद्रों को अयज्ञीय कहा जाता था। आगे चलकर शूद्र ही अनुसूचित जाति व जनजाति कहलाये। यह नाम अंग्रेजों द्वारा दिया गया था।

भारत के संविधान में भाग 16, अनुच्छेद 330-342 के तहत अनुसूचित जाति, जनजातियों व अन्य पिछड़े वर्गों के लिये विधि प्रावधान किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं –

- (a) स्थानों का आरक्षण – अनु० जाति व जनजातियों हेतु अनुच्छेद 330 व 332 के तहत क्रमशः लोकसभा व राज्य विधानसभाओं में स्थानों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है।
- (b) सेवाओं और पदों हेतु दावे— संघ व राज्यों की लोकसेवाओं में नियुक्ति करते समय एस०सी० व एसटी के दावों पर प्रशासन की दक्षता बनाये रखते हुये ध्यान रखा जायेगा। (अनुच्छेद 335)
- (c) राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा जनजाति आयोग— अनुच्छेद 338 के तहत एस०सी० व एस०टी० के लिये एक आयोग गठित करने का प्रावधान किया गया है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार उत्तराखण्ड की कुल जनसंख्या 1,00,86,292 है। जिसमें से अनुसूचित जाति व जनजाति की कुल जनसंख्या 21,84,419 है, जो राज्य की कुल जनसंख्या का 21.65 प्रतिशत है। अनुसूचित जाति वालों की संख्या 18,92,516 (कुल जनसंख्या का 18.8 प्रतिशत) तथा अनुसूचित जनजाति वालों की संख्या 2,91,903 (कुल जनसंख्या 2.9 प्रतिशत है)। एस०सी० का लिंगानुपात 936 व एस०टी० का 963 है। सर्वाधिक एस०सी० जनसंख्या वाला जिला हरिद्वार व सबसे कम चम्पावत है। उत्तराखण्ड में 5 अनुसूचित जनजातियां मुख्य रूप से पाई जाती है। जौनसारी, थारू, भोटिया, बोक्सा और राजी जिनमें से सर्वाधिक संख्या वाली जनजाति जौनसारी व सबसे कम राजी जनजाति है।

उत्तराखण्ड में कई जनजातियां आज भी जंगली जीवन बिताने को मजबूर हैं, जिनमें राजी जनजाति प्रमुख है। जंगलों में ही निवास करने के कारण इन्हें वनरौत, वनराउत या वनमानुष भी कहते हैं। ये अधिकांशतः वनों में निवास करते हैं, पर कहीं-कहीं गुफाओं व झोपड़ियों में भी निवास करते हैं। फलस्वरूप सूचना तन्त्र से दूर होते जाते हैं। अभाव व कुपोषण के कारण इनकी संख्या दिनों दिन घटती जा रही है। ये धर्म कार्य में इतना विश्वास करते हैं कि देवताओं को प्रसन्न रखने के लिये उन स्थानों पर पशुओं की हड्डियां गाड़ते व टांगते हैं। जंगल से घर आने में यदि कोई बीमार हो जाता है तो उन्हें जंगल के देवता के नाराज हो जाने का विश्वास हो जाता है।

जौनसारी जनजाति आडम्बरयुक्त जीवन में विश्वास रखती है। आज भी ये भूत, पिशाच, परियों की पूजा करते हैं। इनमें आपस में भी वर्ग विभाजन रहता है। कारीगर व हरिजन जौनसारियों की स्थिति समाज में निम्नतम रहती है। ये कर्ज में डूबे रहते हैं। जिसके कारण इन्हें बन्धुआ मजदूरों के रूप में कार्य करना पड़ता है। ये गरीबी के दुष्चक्र से मुक्त नहीं हो पाते।

आज भी कई जनजातियों में बहुपति विवाह और बहुपत्नी विवाह भी देखने को मिलता है। अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता इन्हें घेरे हुये हैं थारू जनजाति आपसी छुआछूत से भरी हुई है। आज भी प्राचीन कृषि पद्धति को अपनाने के कारण ये गरीबी के भंवर में फंसे जा रहे हैं। अशिक्षा, कमजोर सामाजिक व आर्थिक दशा इनकी वृद्धि व विकास के मार्ग में बाधक है। ये जनजातियां प्राचीन परम्पराओं का पालन कर रही हैं। भोगविलासी जीवन (शराब, मांसयुक्त भोजन) जौनसारियों की विशेषता है। विषम भौगोलिक परिस्थितियों व छुआछूत के कारण इनका मनोबल टूट जाता है। ये प्राचीन रीति-रिवाजों के कारण अपने अधिकारों से विमुख होते जा रहे हैं। आज भी मानवाधिकार इन वर्गों के लिये एक पहेली बनी हुई है। आज भी एस0सी0 व एस0टी0 वर्ग परम्परावादी विचारों के भंवर में फंसा हुआ है। इन्हीं कारणों से इनके अधिकारों का हनन अधिक हो रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. वटरवर्थ, बदन, गाइन्स एजेजिओफर प्रोटेक्शन ऑफ ह्यूमन राइट्स अन्डर दि लॉ, पृष्ठ संख्या-3।
2. अग्रवाल, डॉ० एच०ओ० अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं मानव अधिकार, पृष्ठ संख्या – 611।
3. प्रसाद, प्रो० राजेन्द्र, मानव अधिकार एवं राष्ट्रीय सुरक्षा, पृष्ठ संख्या-39।
4. ऋग्वेद / 10 / 90 / 12
5. मानवाधिकार मैनुअल, पृष्ठ संख्या-12
6. बिस्वाल, तपन, मानवाधिकार जेन्डर एवं पर्यावरण, पृष्ठ संख्या – 58।
7. सेठी, आर०आर०, नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली 1964, पृष्ठ संख्या-68।
8. ह्यूमन राइट्स इन कन्स्टीट्यूशनल लॉ, पृष्ठ संख्या-5।
9. मानवाधिकार नई दिशायेँ वर्ष 2006, अंक 3, पृष्ठ संख्या – 30, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग दिल्ली।
10. शर्मा, डा० शिवदत्त, मानवाधिकार, पृष्ठ – 35।
11. भारतीय जनगणना 2011।
12. सिंह, गजेन्द्रप्रताप, मानवाधिकार हनन संबंधी मीडिया अन्तर्वस्तु का विश्लेषणात्मक अध्ययन, म० गां० अं० हिंदी विश्वविद्यालय, संचार व मीडिया अध्ययन केन्द्र